राष्ट्र जीवन की समस्याएँ

❖ पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

क्र.	विषय	पृ.
१.	भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल	१
२.	राष्ट्रभाषा की समस्या	६
३.	अखिण्ड भारत : साध्य और साधन	११
४.	संविधान का क्या करें?	१५
५.	समाजवाद, लोकतन्त्र और हिन्दुत्ववाद	१६
६.	राष्ट्र जीवन की समस्याएँ	२८

प्रकाशक :

लोकहित प्रकाशन

'संस्कृति भवन', राजेन्द्र नगर,

लखनऊ – २२६००४

ISBN-978-81-89606-63-3

षष्ठम् संस्करण

मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी

सम्वत्– २०६६

युगाब्द– ५११९

२८ नवम्बर, २००९

मूल्य : रु. १०.००

मुद्रक :

नूतन आफसेट मुद्रण केन्द्र

'संस्कृति भवन', राजेन्द्र नगर,

लखनऊ – २२६००४

भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल

गत अर्द्ध शताब्दी की राजनीतिक हलचलों का परिणाम आज का भारतीय जीवन कहा जाये, तो किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी और आज के जीवन से असन्तुष्ट व्यक्ति का ध्यान पिछले राजनीतिक आन्दोलनों का विश्लेषण करने की ओर स्वाभाविक रूप से जा सकता है। उन आन्दोलनों की सफलता या असफलता को न आँकते हुए भी तनिक गम्भीरता से विचार करने पर यह दिखता है कि हमारी सम्पूर्ण राजनीति की भित्ति कुछ ऐसे तथ्यों पर खड़ी हुई है, जिनकी सत्यता के विषय में ही शंका उत्पन्न होती है। आज तक उन तथ्यों को स्वयंसिद्ध एवं सत्य मानकर चला गया है तथा हमारे बड़े से बड़े राजनीतिक महापुरुष ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और शक्ति उन तथ्यों के आधार पर आन्दोलन करने और राष्ट्र चेतना उत्पन्न करके राजनीतिक मन्तव्य सिद्ध करने में लगा दी है और आज भी भारत के नवनिर्माण का स्वप्न देखने वाले अनेक मनीषी उन तथ्यों को वज्र–रेखा मानकर चलते हैं। उन तथ्यों से निकाले हुए परिणामों और उनकी समस्याओं के हल के सम्बन्ध में चाहे भिन्न–भिन्न दलों में झगड़ा हो; किन्तु उन तथ्यों की सत्यता के सम्बन्ध में वे भी एकमत हैं। इसलिए नहीं कि उन्होंने उनको सत्य की कसौटी पर कसकर खरा पाया है अपितु इसलिए कि इस सम्बन्ध में उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया। पृथ्वी को स्थिर मानकर, सूर्य को उसके चारों ओर प्रदक्षिणा करता हुआ मानकर टालेमी आदि विद्वानों ने अनेक सिद्धान्तों की रचना की किन्तु कोपरनिकस के आविर्भाव तक किसी को यह ज्ञान न हो सका कि उनके सम्पूर्ण ज्योतिष का आधार ही मिथ्या है।

भारतीय राजनीतिज्ञों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे भारत के भिन्न–भिन्न वर्गों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। उनके इस अस्तित्व को स्वीकार करके फिर वे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि यह अस्तित्व किस प्रकार राष्ट्र के हितार्थ काम में आये। आज तक उनका सम्पूर्ण प्रयत्न इस प्रकार भिन्न–भिन्न स्वतन्त्र मानी हुई इकाइयों के बीच एकता और सामञ्जस्य स्थापित करने का ही रहा है। उनमें महत्तम समापवर्तक ढूँढने का उन्होंने प्रयास किया

है; किन्तु संस्थाएँ इतनी रूढ़ होती जाती हैं कि उनका समापवर्तक ही नहीं मिल पाता। किसी भी वर्ग के अस्तित्व को, जो कि वास्तविक नहीं है, संकट न पहुँचाते हुए; बल्कि उनका संवर्द्धन ही करते हुए, आज तक के राजनीतिक प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया गया है और उसका परिणाम सदा ही असफलता के रूप में आया है।

अंग्रेजों के राज्यकाल में हमने यह स्वीकार किया कि देश में मुसलमान, ईसाई आदि अनेक वर्ग हैं तथा उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए ही राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकेगा। वास्तव में राष्ट्रीयता के स्तर पर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना एक बड़ी भारी भूल है; क्योंकि मुसलमान, ईसाई आदि का वर्गीकरण मजहब के आधार पर करना राष्ट्रीयता से भिन्न बात है। एक मजहब के मानने वाले अनेक राष्ट्रों के अंग हो सकते हैं और एक ही राष्ट्र में अनेक मजहब के मानने वालों का समावेश हो सकता है। राष्ट्रीयता यदि कोई शक्तिशाली प्रेरणा है, तो उसके चेतना–क्षेत्र में मजहब का प्रवेश नहीं होता; किन्तु आज तक हमारा प्रयत्न यही रहा है कि इन वर्गों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर उनका एकीकरण करें। ऐसा एकीकरण जिसमें किसी को कुछ भी न छोडना पड़े। मजे की बात यह है कि यह जो सबको मिलाकर एक बनाने वाले तत्त्व हैं, उनकी भी स्पष्ट कल्पना किसी को नहीं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अनेक बार कहा था कि स्वतन्त्र भारत का राज्य न हिन्दू का होगा, न मुसलमानों का होगा और न ईसाई का। प्रश्न आता है कि फिर किसका होगा? इसका उत्तर बहुत लोगों ने यह कहकर देने का प्रयत्न किया है कि वह 'हिन्दुस्तानियों' का होगा। किन्तु फिर झगड़ा आता है कि यह हिन्दुस्तानी कौन? इसमें किसका कितना समावेश होगा और किस आधार पर होगा? क्या संख्या–बल के आधार पर या और किसी आधार पर? अभी तक हमने संख्या–बल का आधार माना है तथा जिस–जिस चीज को ये वर्ग अपना कह कर खड़े हुए हैं उनको मिलाने का प्रयत्न किया है। अंग्रेजों से होने वाले सभी समझौतों तथा उस काल के सभी आन्दोलनों में वही प्रश्न मुख्य रहा है तथा उसका परिणाम 'पाकिस्तान' हुआ यह मानने में किसी समझदार व्यक्ति को आपत्ति न होगी।

इस प्रकार वर्गीकरण केवल साम्प्रदायिक आधार पर ही नहीं, भाषा और आर्थिक आधारों पर भी किया जाता है। आज हमारे सभी नेता यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक भाषा–भाषी वर्ग का एक स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा ऐसे अनेक स्वतन्त्र वर्गों को मिलाकर समूचे भारत की रचना करनी चाहिए। इसी का परिणाम हमारी 'इण्डियन यूनियन' तथा उसका प्रस्तुत विधान है। इस कल्पना ने 'प्रान्तीय स्वतन्त्रता' नाम के सिद्धान्त को जन्म दिया है तथा आज जब प्रान्तों

का एक भी अधिकार केन्द्र अपने हाथ में लेता है, तो प्रान्त–प्रतिनिधि प्रान्तीय स्वतन्त्रता की दुहाई देकर प्रान्तों को म्यूनिसिपैलिटी के समकक्ष बनाने के प्रयत्नों की निन्दा करने लगते हैं। साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता का परिणाम यदि पाकिस्तान हुआ है, तो इस प्रान्तीय स्वतन्त्रता का परिणाम क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतलायेगा।

आर्थिक आधार पर भी स्वतन्त्र वर्गों की कल्पना की जाती है। एक जमीदार तो दूसरा कृषक, एक पूँजीपति तो दूसरा मजदूर, एक शोषक तो दूसरा शोषित। इस प्रकार का वर्गीकरण करके तो एक को दबाकर दूसरे का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न होता है या अधिक से अधिक दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

उपर्युक्त सभी एवं ऐसे अनेक वर्ग जिनको राजनीतिज्ञ, कठोर सत्य मानकर चलते हैं, वास्तव में मिथ्या हैं तथा जब तक हम उनका अस्तित्व मानकर, उनको सन्तुष्ट करने की नीति अपनाकर उनके अहंकार और स्वार्थ की वृद्धि करते रहेंगे, तब तक राजनीति विपरीत दिशा में ही बहती रहेगी। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण भारत एक है तथा भारत की सम्पूर्ण सन्तान एक है और उसको इस एकता का अनुभव करते हुए रहना चाहिए। अनेक अंगों को इकट्ठा करके शरीर की सृष्टि नहीं होती; किन्तु शरीर के अनेक अंग होते हैं और इसलिए प्रत्येक अवयव अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए नहीं अपितु शरीर के अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार राष्ट्र के सभी अंगों को अपनी रूपरेखा, राष्ट्रीय स्वरूप और हितों के अनुकूल बनाना चाहिए न कि राष्ट्र को ही इन अंगों के अनुसार काटा–छाँटा जाय। सम्प्रदायों, प्रान्तों, भाषाओं और वर्गों का तभी तक मूल्य है जब तक वे राष्ट्र–हित के अनुकूल हैं अन्यथा उनका बलिदान करके भी राष्ट्र की एकता की रक्षा करनी होगी।

प्रथम दृष्टिकोण में अनेक को सत्य मानकर एक की कल्पना का प्रयत्न है, तो दूसरे में एक को सत्य मानकर अनेक उसके रूप मात्र हैं। जैसे नदी के जल में आवर्त्त–विवर्त्त तरंग आदि अनेक रूप होते हैं किन्तु उनका अस्तित्व नदी के जल से भिन्न और स्वतन्त्र नहीं होता और न नदी उनके समुदाय का ही नाम है। दुःख का विषय है कि आज भी देश की बागडोर जिनके हाथ में है, वे प्रथम दृष्टिकोण से ही समस्त समस्याओं को देखते हैं, जब तक राजनीति की इस मौलिक भूल का परिमार्जन नहीं होगा, तब तक राजनीतिक भारत का निर्माण सुदृढ़ नींव पर नहीं हो सकता।

✡

राष्ट्रभाषा की समस्या

राजभाषा के सम्बन्ध में राष्ट्रपति का आदेश जब दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में रखा गया, उस समय संसद् के बजट सत्र का अन्तिम दिन था। फलतः सदस्यों को उस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने का अवसर नहीं मिला।

शासन ने इस विषय में आरम्भ से ही इस प्रकार की नीति अपना रखी है। न मालूम किस कारण से वह सदस्यों को इस विषय पर खुलकर विचार नहीं करने देता, जो भी प्रतिवेदन रखा जाता है वह सत्र की समाप्ति पर ही रखा जाता है।

संविधान के अनुसार ५ वर्ष के बाद शासन ने हिन्दी को राजभाषा बनाने की दिशा में क्या प्रगति की है और उसे कौन से पग भविष्य में उठाने चाहिए, इसका विचार और विधान करने के हेतु ही अनुच्छेद ३४४ के अन्तर्गत राजभाषा आयोग, संसदीय समिति एवं राष्ट्रपति के आदेश की व्यवस्था की गयी है।

संविधान २६ जनवरी, १९५० को लागू हुआ। २६ जनवरी १९५५ के बाद अनुच्छेद ३४४ के अन्तर्गत कार्यवाही होनी चाहिए; किन्तु जिस मन्थर गति से यह कार्यवाही हुई, उसमें ५ वर्ष से अधिक समय बीत गया। वास्तव में २६ जनवरी १९६० के बाद दूसरा राजभाषा आयोग स्थापित होना चाहिए था।

राष्ट्रपति ने अपने आदेश में संविधान के अनुच्छेद ३४४ द्वारा उन पर सौंपे हुए दायित्व का निर्वाह तो किया ही नहीं, उल्टे अनुच्छेद ३४३ की उक्त मर्यादाओं का अतिक्रमण अवश्य किया। आदेश में कहा गया कि सन् १९५५ के बाद भी अंग्रेजी एक 'सहयोगी भाषा' के रूप में चलती रहेगी।

अनुच्छेद ३४३ में अथवा भाग १७ में जहाँ राजभाषा का विधान हुआ है। 'सहयोगी राजभाषा' के रूप में अंग्रेजी अथवा किसी अन्य भाषा की कल्पना नहीं की गयी है। संविधान निर्माताओं को न यह शब्द ही सूझा और न उन्होंने

इसकी आवश्यकता ही समझी। उन्होंने तो स्पष्ट रूप में यह कहा कि 'संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी तथा १५ वर्ष की कालावधि में अंग्रेजी का उपयोग केवल राजकीय प्रयोजनों के लिए होगा।' १५ वर्ष के बाद साधारणतः अंग्रेजी का राजकाज में कोई सहयोग नहीं रह जाता। हाँ, यदि संसद् आवश्यक समझे तो 'विधि द्वारा अंग्रेजी भाषा का ऐसे प्रयोजनों के लिए उपयोग उपबन्धित कर सकेगी। जैसे कि उस विधि में उल्लिखित हों।' स्पष्ट है कि १९६५ के बाद अंग्रेजी का क्या, कितना और कब तक स्थान रहेगा, इसका निर्णय संसद् की विधि के द्वारा होना चाहिए था न कि राष्ट्रपति के आदेश द्वारा। राष्ट्रपति आनेवाली संसद् को इस प्रकार प्रतिबन्धित नहीं कर सकते। साथ ही संसद् का ऐसा निर्णय कुछ दो–चार प्रयोजनों के लिए हो सकता है। सम्पूर्ण राजकाज के क्षेत्र को वह व्याप्त नहीं कर सकता। फिर जिन क्षेत्रों में अंग्रेजी का प्रयोग उस विधान के अन्तर्गत हुआ, वहाँ वह एक सहयोगी भाषा के रूप में न होकर प्रमुख भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी।

उस समय प्रधानमन्त्री ने 'सहयोगी भाषा' शब्द का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से किया रहा होगा; किन्तु राष्ट्रपति के आदेश में, जो कि एक विधान की शक्ति रखता है इस शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए था।

अनुच्छेद ३४४ के अनुसार आयोग और संसदीय समिति के प्रतिवेदन पर विचार कर राष्ट्रपति को विशेषकर निम्न विषयों पर अपना आदेश देना था–

- संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग।
- संघ के राजकीय प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बन्धन।
- अनुच्छेद ३४८ में वर्णित प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए प्रयोग किये जाने वाली भाषा एवं
- संघ के किसी एक या अधिक उल्लिखित प्रयोजनों के लिए प्रयोग किये जाने वाले अंकों का रूप।

इन सभी विषयों पर राष्ट्रपति के आदेश ने देश को आगे बढ़ाने के स्थान पर पीछे की ओर खींच दिया। आवश्यकता तो यह थी कि शासन क्षेत्र में हिन्दी के अधिकाधिक एवं उत्तरोत्तर प्रयोग के सम्बन्ध में आदेश दिया जाता; किन्तु उसके स्थान पर कहा गया कि 'गृह मन्त्रालय एक ऐसी योजना के निर्माण और क्रियान्वयन के लिए आवश्यक कार्यवाही करे जिसमें ऐसे पग उठाये जा सकें,

जो हिन्दी के उत्तरोत्तर प्रयोग को सुविधाजनक बना दें।' अर्थात् पानी पिलाने के स्थान पर मात्र कुआँ खोदने की योजना बनाने का आदेश दिया गया।

स्पष्ट था कि शासन के सभी क्षेत्रों में अभी अंग्रेजी अबाध रूप से चलती रहेगी। उसके प्रयोग को प्रतिबन्धित करने वाला कोई आदेश नहीं दिया गया। कहा जा सकता है कि जब शासन तैयार ही नहीं, तो उसको रोकने वाला कोई आदेश देकर शासन के काम को ठप कर देना व्यावहारिक नहीं होता।

किन्तु कुछ ऐसे क्षेत्र अवश्य हैं, जहाँ हमारे राष्ट्र के स्वतन्त्र अस्तित्व एवं हमारे सम्मान का तकाजा है कि हम अंग्रेजी को छोड़कर अपनी राज्य–भाषा का प्रयोग करें।

विदेशों से हमारे जो सम्बन्ध आते हैं, वे हमारी अपनी ही भाषा में होने चाहिए। हमें तो अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण अंग्रेजी को इस क्षेत्र से विदा देनी चाहिए।

नागरी अंकों के सम्बन्ध में जो आदेश मिला उसके फलस्वरूप एकरूपता के नाम पर उनको चारों ओर से बहिष्कृत होना पड़ा। राजभाषा–आयोग ने यद्यपि यह स्पष्ट कहा था कि हिन्दी के प्रकाशनों में नागरी के ही अंकों का प्रयोग होना चाहिए; किन्तु शासन ने हिन्दी के इन प्रचलित अंकों को चलने नहीं दिया।

संविधान में अंग्रेजी अंक की उस समय जो सौदेबाजी हुई उसमें हम फँस गये। किन्तु उस आधार में जहाँ न्यायतः नागरी अंक प्रस्तुत हो सकते हैं या होते रहे हैं, वहाँ से भी उनको हटा देना तो ठीक नहीं रहा।

अनुच्छेद ३४८ के अन्तर्गत प्रयोजनों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति का आदेश केवल विधि–मंत्रालय से कानून की पुस्तक का हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद करने की सिफारिश करता है। उसे यह भीं सलाह दी गयी है कि यथासमय वह न्यायालयों द्वारा हिन्दी एवं अन्य राज्यों की राजभाषाओं में न्यायालयीन निर्णय, आदेश, सम्मन आदि देने के विषय में उपयुक्त विधान पारित कराने की व्यवस्था निर्माण करे।

एक निश्चित आदेश पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में दिया गया है। शिक्षा मन्त्रालय के अन्तर्गत एक स्थायी आयोग नियुक्त किया जायेगा, जो कि पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेगा। अभी तक इस क्षेत्र में शिक्षा–मन्त्रालय एवं विभिन्न राज्यों में जो कार्य हुआ है उस पर पुनर्विचार भी किया जायेगा।

पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में बताया गया है कि उन्हें उनके मूल

अन्तर्राष्ट्रीय रूप में ही स्वीकार किया जाये। हाँ, उनके व्युत्पन्न शब्दों को बनाते समय भारतीयकरण अवश्य किया जा सकता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राष्ट्रपति ने अपने आदेश में भाषा–विज्ञान से असंगत बात का उल्लेख कर दिया है।

यदि मूल शब्द ग्रीक या लैटिन का लिया गया तो विज्ञान और विद्या के क्षेत्र में उनसे निकले हुए शब्द को लेना अनिवार्य हो जायेगा। यदि उनके साथ संस्कृत या हिन्दी के उपसर्ग और प्रत्ययों को जोड़ा गया तो प्रथम तो वह सरल एवं सहज नहीं होगा, दूसरे इस प्रकार का बना हुआ शब्द संस्कृत धातु से बने हुए शब्द से और भी कठिन हो जायेगा। राष्ट्रपति ने अपना आदेश संसदीय समिति द्वारा व्यक्त अभिमत के आधार पर दिया है।

दुर्भाग्य का विषय है कि जो प्रश्न भाषाशास्त्रियों पर छोड़ देना चाहिए था उस पर राजनीतिज्ञ अपना मत देने लगते हैं। राजनीतिज्ञ भाषा के नाम पर लड़ सकते हैं पर भाषा का सृजन नहीं कर सकते।

राष्ट्रपति ने, जब वे संविधान सभा के अध्यक्ष थे, इस विषय पर विचार किया था। संविधान का हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करते समय यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। सभी भाषाओं के विद्वानों की एक समिति श्री घनश्याम सिंह गुप्त की अध्यक्षता में बैठी थी। उसने यही निर्णय लिया कि अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में बहुप्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया जाय। 'पार्लियामेण्ट' शब्द आज सरल एवं ज्ञेय हो सकता है, किन्तु संविधान में केवल पार्लियामेण्ट शब्द के प्रयोग मात्र से काम नहीं चलता। यहाँ तो उसके साथ और भी व्युत्पन्न शब्द लाने पड़ेंगे। उसका भारतीयकरण करने का यदि प्रयास किया गया तो शिवजी की बारात बन जायेगी, भाषा नहीं।

संविधान सभा ने भी हिन्दी के भावी स्वरूप का विचार करते समय अनुच्छेद ३५१ में यही कहा है कि 'वह अपने शब्द–भण्डार के लिए मुख्यतः अन्य भाषाओं से (अष्टम सूची में वर्णित जिनमें अंग्रेजी नहीं है) शब्द ग्रहण करें।' संस्कृत धातु से बना हुआ शब्द आज चाहे कुछ अनजान सा और कठिन प्रतीत हो किन्तु थोड़े ही दिनों में यह स्पष्ट हो जायेगा कि वह शब्द हमारे लिए अधिक सुलभ एवं प्रामाणिक दृष्टि से सूक्ष्म एवं यथार्थ भाव को व्यक्त करनेवाला होगा।

संस्कृतनिष्ठ पारिभाषिक शब्दावली न केवल भारत के लिए अपितु सम्पूर्ण दक्षिण एवं पूर्व–एशिया के लिए काम दे सकेगी; तथा आने वाली

शब्दावली में वही अन्तरराष्ट्रीय शब्दावली बन सकेगी।

सविधान ने राजभाषा के विषय में राष्ट्रपति पर केन्द्र–शासन से अलग उत्तरदायित्व डाला है; उन्हें उसका निर्वाह करना चाहिए। सत्य तो यह है कि अब तक राष्ट्रपति ने व्यक्तिगत रूप से अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं किया और १९६५ के बाद भी हम एक पग आगे नहीं बढ़ पाये।

वास्तव में देश में हिन्दी का कहीं विरोध नहीं है। हाँ यदि शासन की नीतियों के कारण अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने और उसमें पटुता प्राप्त करने की सुविधा और अवसर नहीं मिला तो वे अपने भविष्य के सम्बन्ध में आशंकित अवश्य हैं। उनकी आशंकाओं को दूर करने के लिए ऐसी व्यवस्था करना है, जिससे अहिन्दी प्रान्तों के बच्चे भी हिन्दी सीख सकें।

आज डॉ. राममनोहर लोहिया और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी में इस प्रश्न पर जमीन–आसमान का अन्तर दिखाई देता है किन्तु उनके मूल में यदि जायें तो शासन की निष्क्रियता के कारण हिन्दी के योग्य प्रसार और विकास का अभाव ही है। उसके कारण ही राजाजी को लगा कि १९६५ में हिन्दी आ गयी तो सभी तमिल वाले हिन्दी ज्ञान के अभाव में नौकरियों से वंचित हो जायेंगे।

हिन्दी के प्रश्न पर जबकि बहुतांश एकमत हैं, शासन की नीति के कारण ही विवाद खड़ा हो गया है। आज तक शासन ने पारिभाषिक शब्द क्यों नहीं बनाये? क्या राजाजी ने उसको रोका था? उन्होंने टंकन के मापक पटल क्यों नहीं सुधारे? उसमें किस हिन्दी–विरोधी ने बाधा डाली थी? बाधा हिन्दी–विरोधियों की नहीं, शासन की उपेक्षा, टालमटोल एवं उदासीनता की नीति ही है।

राष्ट्रपति के आदेश के उपरान्त भी उस नीति में परिवर्तन के कोई लक्षण नहीं आये अपितु वही नीति चलती रही। उसका ही परिचय उस आदेश से मिला था।

✡

अखण्ड भारत : साध्य और साधन

भारतीय जनसघ ने अपने सम्मुख अखण्ड भारत का ध्येय रखा है। अखण्ड भारत देश की भौगोलिक एकता का ही परिचायक नहीं अपितु जीवन के भारतीय दृष्टिकोण का द्योतक है, जो अनेकता में एकता के दर्शन करता है। अतः हमारे लिए अखण्ड भारत कोई राजनैतिक नारा नहीं है, जो परिस्थिति विशेष में जनप्रिय होने के कारण हमने स्वीकार किया हो; बल्कि यह तो हमारे सम्पूर्ण दर्शन का मूलाधार है। १५ अगस्त, १९४७ को भारत की एकता के खण्डित होने तथा धन की अपार हानि होने के कारण लोगों को अखण्डता के अभाव का प्रत्यक्ष परिणाम देखना पड़ा और इसलिए आज भारत को पुनः एक करने की भूख प्रबल हो गयी है; किन्तु यदि हम युगों–युगों से चली आयी जीवनधारा के अन्तःप्रवाह को देखने का प्रयत्न करें, तो हमें पता चलेगा कि हमारी राष्ट्रीय चेतना सदैव ही अखण्डता के लिए प्रयत्नशील रही है तथा इस प्रयत्न में हम बहुत कुछ सफल भी हुए हैं।

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यस्य संततिः।।

इस रूप में जब हमारे पुराणकारों ने भारतवर्ष की व्याख्या की, तो वह केवल भूमिपरक ही नहीं, अपितु जनपरक और संस्कृतिपरक भी थी। हमने भूमि, जन और संस्कृति को एक–दूसरे से भिन्न नहीं किया, अपितु उनकी एकात्मता की अनुभूति के द्वारा राष्ट्र का साक्षात्कार किया। राष्ट्रीय और एकतात्मक संस्कृति की जो आधारभूत मान्यताएँ जनसंघ ने स्वीकार की हैं, उन सबका समावेश 'अखण्ड भारत' शब्द के अन्तर्गत हो जाता है। अटक से कटक, कच्छ से कामरूप तथा कश्मीर से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भूमि के कण–कण को पुण्य और पवित्र ही नहीं अपितु आत्मीय मानने की भावना अखण्ड भारत के अन्दर

अभिप्रेत है। इस पुण्य भूमि पर अनादिकाल से जो प्रजा उत्पन्न हुई तथा आज जो है, उनमें स्थान और काल के क्रम से ऊपरी भिन्नताएँ चाहे जितनी रही हों; किन्तु उनमें सम्पूर्ण जीवन में मूलभूत एकता का दर्शन प्रत्येक अखण्ड भारत का पुजारी करता है। अतः सभी राष्ट्रवादियों के सम्बन्ध में उसके मन में आत्मीयता एवं उससे उत्पन्न पारस्परिक श्रद्धा और विश्वास का भाव रहता है। वह उनके सुख–दुःख में सहानुभूति रखता है। इस अखण्ड भारतमाता की कोख में उत्पन्न सपूतों ने अपने क्रियाकलापों से विविध क्षेत्रों में जो कुछ निर्माण किया उसमें भी एकता का सूत्र रहा है। हमारी धर्म–नीति, अर्थनीति और राजनीति, हमारे साहित्य, कला और दर्शन, हमारे इतिहास, पुराण और उपनिषद, हमारी स्मृतियाँ और विधान सभी में देवपूजा के विभिन्न व्यवधानों के अनुसार बाह्य भिन्नताएँ होते हुए भी भक्त की भावना एक रही है। हमारी संस्कृति की एकता का दर्शन अखण्ड भारत के पुरस्कर्ता के लिए आवश्यक है।

सम्पूर्ण जीवन की एकता की अनुभूति तथा उस अनुभूति के मार्ग मे आने वाली बाधाओं को दूर करने के रचनात्मक प्रयत्न का ही नाम इतिहास है। गुलामी हमारी एकत्वानुभूति में सबसे बड़ी बाधा थी। फलतः हम उसके विरुद्ध भिडे। स्वराज्य प्राप्ति इस अनुभूति में सहायक होनी चाहिए थी। वह नही हुई, इसीलिए हम खिन्न हैं। आज हमारे जीवन में विरोधी भावनाओं का संघर्ष हो रहा है। हमारे राष्ट्र की प्रकृति है 'अखण्ड भारत'। खण्डित भारत विकृति है। आज हम विकृति में आनन्दानुभूति का धोखा खाना चाहते हैं; किन्तु आनन्द मिलता नहीं। यदि हम सत्य को स्वीकार करें, तो हमारा अन्तःसंघर्ष दूर होकर हमारे प्रयत्नों में एकता और बल आ सकेगा।

कई लोगों के मन में शंका होती है कि अखण्ड भारत सिद्ध भी होगा या नहीं। उनकी शंका पराभूत मनोवृत्ति का परिणाम है। पिछली अर्द्ध–शताब्दी के इतिहास तथा हमारे प्रयत्नों की असफलता से वे इतने दब गये हैं कि उनमें उठने की हिम्मत ही नहीं रह गयी। उन्होंने १९४७ में अपने एकता के प्रयत्नों की पराजय तथा पृथकतावादी नीति की विजय देखी। उनकी हिम्मत टूट गयी और अब वे उस पराजय को ही स्थायी बनाना चाहते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं। वे राष्ट्र की प्रकृति के प्रतिकूल नहीं चल सकते। प्रतिकूल चलने का परिणाम आत्मघात होगा। गत वर्षों की कष्ट–परम्परा का यही कारण है।

१९४७ की पराजय भारतीय एकतानुभूति की पराजय नहीं, अपितु उन प्रयत्नों की पराजय है, जो राष्ट्रीय एकता के नाम पर किये गये। हम असफल

इसलिए नहीं हुए कि हमारा उद्देश्य गलत था; बल्कि इसलिए कि मार्ग गलत चुना। सदोष साधन के कारण साध्य की सिद्धि न होने पर साध्य न तो त्याज्य ही ठहराया जा सकता है और न अव्यावहारिक ही। आज भी अखण्ड भारत की व्यावहारिकता में उन्हीं को शंका उठती है, जिन्होंने उन दोषयुक्त साधनों को अपनाया तथा जो आज भी उनको छोड़ना नहीं चाहते।

अखण्ड भारत के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मुस्लिम सम्प्रदाय की पृथकतावादी एवं अराष्ट्रीय मनोवृत्ति रही है। पाकिस्तान की सृष्टि उस मनोवृत्ति की विजय है। अखण्ड भारत के सम्बन्ध में शंकाशील यह मानकर चलते हैं कि मुसलमान अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करेगा। यदि उनकी धारणा सत्य है, तो फिर भारत में ६ करोड़ मुसलमानों को बनाये रखना राष्ट्रहित के लिए बड़ा संकट होगा। क्या कोई कांग्रेसी यह कहेगा कि मुसलमानों को भारत से खदेड़ दिया जाय? यदि नहीं तो उन्हें भारतीय जीवन के साथ समरस करना पड़ेगा। यदि भौगोलिक दृष्टि से खण्डित भारत में यह अनुभूति सम्भव है, तो शेष भू–भाग को मिलते देर नहीं लगेगी। एकता की अनुभूति के अभाव से यदि देश खण्डित हुआ है, तो उसके भाव से वह अखण्ड होगा। हम उसी के लिए प्रयत्न करें। मुसलमानों को भारतीय बनाने के लिए हमें अपनी गत अर्द्ध शताब्दी पुरानी नीति बदलनी पड़ेगी। कांग्रेस ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के प्रयत्न गलत आधार पर किये। उसने राष्ट्र की और संस्कृति की सही एवं अनादि से चली आनेवाली एकता का साक्षात्कार करने तथा सभी को उसका साक्षात्कार कराने के स्थान पर अनेकता का ही साक्षात्कार किया तथा अनेकों को कृत्रिम तथा राजनीतिक सौदेबाजी के आधार पर एक करने का प्रयत्न किया। भाषा, रहन–सहन, रीति–रिवाजों सभी की कृत्रिम ढंग से रचना की। ये प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकते थे। राष्ट्रीयता और अराष्ट्रीयता का समन्वय सम्भव नहीं।

यदि हम एकता चाहते हैं, तो भारतीय राष्ट्रीयता जो हिन्दू राष्ट्रीयता है तथा भारतीय संस्कृति जो हिन्दू संस्कृति है, उसका दर्शन करें। उसे मानदण्ड बनाकर चलें। भागीरथी की इस पुण्यधारा में सभी प्रवाहों का संगम होने दें। यमुना भी मिलेगी और अपनी सभी कालिमा खोकर गंगा की धवलधारा में एकरूप हो जायेगी। किन्तु इसके लिए भगीरथ के प्रयत्नों की निष्ठा एवं 'एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' की मान्यता लेकर हमने संस्कृति और राष्ट्र की एकता का जो अनुभव किया है वह हजारों वर्षों की असफलता से अधिक है। अतः हमें

हिम्मत हारने की जरूरत नहीं। यदि पिछले सिपाही थक गये हैं, तो नये आगे आयेंगे। पिछलों को अपनी थकान को हिम्मत से मान लेना चाहिए, अपने अस्त्रों की कमजोरी स्वीकार कर लेनी चाहिए। लड़ाई जीतेंगे ही नहीं यह कहना ठीक नहीं। यह तो हमारी आन–बान और शान के खिलाफ है, राष्ट्र की प्रकृति और परम्परा के भी प्रतिकूल है।

✡

संविधान का क्या करें?

कहते हैं कि एक काबुली ने साबुन वाले की दूकान से एक साबुन की बट्टी कलाकन्द के भ्रम में खरीद ली और खाने लगा। मुँह में पड़ते ही साबुन का स्वाद तो मालूम हो गया किन्तु फिर भी वह खाता ही रहा। इस पर किसी ने पूछा– 'खान क्या खाते हो?' तो खान ने तपाक से जवाब दिया– 'खान खाता क्या है? अपना पैसा खाता है।' बस यही बात आज अपने संविधान के सम्बन्ध में एक साधारण भारतीय की मनःस्थिति के बारे में कही जा सकती है।

हमने अनेक वर्षों से एक संविधान–सभा की माँग की थी और चाहा था कि हमारे ऊपर कोई विधान बाहर से न लादा जाय, अपितु हम स्वयं अपने संविधान के निर्माता हों। सन् १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के विधेयक (ठपसस) की स्थिति में मजदूर दल द्वारा की गयी आलोचना का उत्तर देते हुए श्री होर ने कहा था कि 'जिन कमियों के कारण मजदूर दल के नेताओं को यह आशंका हो रही है कि कांग्रेस इस विधान को स्वीकार नहीं करेगी तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि कांग्रेस अपनी संविधान सभा के द्वारा स्वीकृत विधान के अतिरिक्त और किसी विधान को नहीं मानेगी।' इन शब्दों में कांग्रेस की मान्यता की स्वीकृति के सम्बन्ध में की गयी भविष्यवाणी चाहे सर्वांश में सत्य न निकली हो किन्तु देशभक्ति के मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन अवश्य हुआ है। 'स्वराज्य की भूख को सुराज्य से नहीं मिटाया जा सकता' इस सत्य के अनुसार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के द्वारा बनाये गये विधानों का सबसे बड़ा दोष यह था कि वे परकीय सत्ता के द्वारा निर्मित विधान थे और उसके विपरीत आज के भारत के संविधान का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसका निर्माण इस देश के ही कतिपय लोगों ने किया और इसलिए इस संविधान को स्वीकार करना प्रत्येक देशभक्त का कर्त्तव्य हो जाता है। लगभग एक करोड़ रुपया व्यय करके ३ वर्ष की अवधि में यह संविधान तैयार हुआ है। अतः 'खान के पैसे' के समान

किन्तु है अवश्य। देश के नाम, राष्ट्रभाषा आदि प्रश्नों के ऊपर जो निर्णय लिये गये हैं, वे राष्ट्रजीवन की मौलिक कल्पना की विकृति के ही परिचायक हैं।

फिर भारत के संविधान में इतनी बातों का समावेश किया गया है कि उसमें अधिकांश अनावश्यक हैं, तो कई भावी पीढ़ी को जोड़ने वाली भी हैं। आज की सभी कल्पनाओं से भावी सन्तति को बाँध देना उसकी प्रगति में बाधा डालना है। फलतः ऐसे–ऐसे प्रतिबन्ध संविधान में सन्निहित हैं, जो किसी भी देश के विधान में ढूँढ़े से भी नहीं मिलेंगे। अध्यक्ष के चुनाव से लेकर साधारण कर्मचारी तक के सम्बन्ध में धाराएँ जोड़ दी गयी हैं। फलतः संविधान में एक ओर तो अत्युच्च आदर्शों का संकल्प है, जिसमें समाज की आज की स्थिति का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया, तो दूसरी ओर निहित स्वार्थों के संरक्षण की व्यवस्था भी कर दी गयी है। अच्छे नियमों के सम्बन्ध में कहा है कि "you do not enact a good law, but you grow it." किन्तु यहाँ तो संविधान के विकास का मार्ग ही बन्द कर दिया गया है।

तो फिर क्या संविधान का बहिष्कार किया जाये? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है। जिस संविधान के द्वारा देश की भविष्य में निश्चित हानि होने वाली है, उसका पुरस्कार कैसे करें? किन्तु इसी क्षण विचार आता है कि यदि अपने ही लोगों द्वारा निर्मित संविधान का बहिष्कार किया गया, तो एक गलत परम्परा निर्मित होगी, जिसमें भावात्मक के स्थान पर अभावात्मक एवं क्रियात्मक के स्थान पर प्रतिक्रियात्मक वृत्ति ही निर्माण होगी। फिर क्या संविधान का पुरस्कार करते हुए उसे समाप्त करने का प्रयत्न किया जाये, जैसा कि महात्मा जी ने सन् १९३५ के एक्ट के सम्बन्ध में किया? किन्तु बहिष्कार के लिए पुरस्कार भी ठीक नहीं और न इस बात का ही दावा किया जा सकता है कि आगे आने वाली संविधान–सभा सर्वांगपूर्ण संविधान ही बनायेगी; क्योंकि कोई संविधान पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग है और वह है परिष्कार के लिए पुरस्कार। अपने उस्तरे से बेंट और छुरे को बारी–बारी से बदलवाकर ६० वर्ष तक एक ही उस्तरे को चलाने वाले नाई की भाँति हमारे संविधान का आमूल बहिष्कार कहाँ तक सम्भव होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा।

✡

समाजवाद, लोकतन्त्र और हिन्दुत्ववाद

यद्यपि भारत में समाजवादी विचार और समाजवादी पार्टियाँ उस समय से ही विद्यमान हैं, जब से यूरोपीय विचारों ने यहाँ के शिक्षित लोगों को प्रभावित करना प्रारम्भ किया, तथापि सैद्धान्तिक रूप में समाजवाद यहाँ के निवासियों के राजनैतिक या सामाजिक जीवन में अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना सका। परन्तु, कांग्रेस के आवड़ी अधिवेशन, के पश्चात्, जिसमें कांग्रेस ने समाजवादी समाज को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित किया; स्थिति बदल गयी। जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न है, वह आज भी उससे उतनी ही दूर है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद के लक्ष्य को अपनाये जाने के बाद भी यह जनता का हृदय स्पर्श नहीं कर पाया है। जनता उसके प्रति उत्साहित नही है। परन्तु ऐसा समझा जाने लगा है कि सरकार की नीतियाँ उसी के अनुरूप ढलती जा रही हैं और इस कारण जो सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने का विचार करते हैं उन्हें अवश्य ही चिन्ता हो गयी है। आज इस विचारधारा के अनुयायियों की संख्या के अनुपात में इसे कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। साथ ही प्रधानमन्त्री की लोकप्रियता और सम्मान के कारण कुछ समय के लिए तो ऐसा लगने लगा है मानो समाजवाद यहाँ की जनता का सर्वप्रिय जीवन दर्शन हो गया हो। आज अपने आपको समाजवादी कहना, एक फैशन–सा लगता है। समय के प्रवाह में बहने वाली राजनीतिक पार्टियों में तो इस बात की होड़ सी लगी है कि उनमें से कौन अपने को समाजवाद का बड़ा पुरस्कर्त्ता सिद्ध कर सकता है। हिन्दू महासभा भी हिन्दू समाजवाद की बातें करने लगी है। वैदिक विचारकों ने भी पुराना साहित्य कुरेद कर 'वैदिक समाजवाद' की नयी खोज कर डाली है।

समाजवाद के विभिन्न स्वरूप

इस देश में कांग्रेस, समाजवाद का नारा बुलन्द करने वाली प्रथम पार्टी

नहीं है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद स्वीकार किये जाने के पूर्व भी यहाँ समाजवादी पार्टियाँ थीं और आज भी हैं। विभिन्न समाजवादी पार्टियों के असन्तुष्ट लोग भी अपने को समाजवादी ही कहते हैं। इतना ही नहीं, उनका तो दावा यह होता है कि वे जिस समाजवाद को मानते हैं, वही अधिक शुद्ध है। इस स्थिति ने समाजवाद के बारे में और भी अधिक भ्रम बढ़ा दिया है। यूरोप में वैसे भी समाजवाद के अनेक प्रकार विद्यमान है। रूजवेल्ट, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन सभी अपने आपको समाजवादी कहते थे। ऐसे भी लोगों की कमी नहीं, जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष राजनीति से दूर रहने के बाद भी अनेक प्रकार के समाजवादी सिद्धान्तों की रचना कर डाली है। भारत में भी इन सभी प्रकार के समाजवादी पन्थों के अनुयायी विद्यमान हैं। कुछ इस प्रकार के भी प्रयास यहाँ होते रहे हैं जिसमें यूरोपीय समाजवाद को भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप ढालकर स्वीकार करने का आग्रह रहा हो।

बाबू जयप्रकाश नारायण आज भी समाजवादी बने हुए हैं। एम.एन. राय ने अपने जीवन के अन्तिम काल में समाजवाद का पूर्णतः त्याग कर दिया था तथापि मृत्यु के समय भी वे रेडिकल सोशलिस्ट ही कहलाये। उन राजनीतिज्ञों के साथ–साथ जो विना समझे–बूझे किसी भी समय कोई भी बात कह सकते हैं, अन्य सिद्धान्तवादी और राजनीतिज्ञों ने भी इस समाजवाद के बारे में ऐसी धारणाएँ पैदा कर दी है कि लोग यही नहीं समझ पाते कि वे हैं कहाँ पर?

प्रेरणा का मूल स्रोत.

एक बार ऐसा व्यंग्य किया गया था कि समाजवाद कोई जीवन–दर्शन नहीं अपितु एक अटपटी वृत्ति मात्र है। यदि हम समाजवादियों के विचारों का विश्लेषण करें तो बहुत अंशों तक यह उक्ति सही प्रतीत होगी। सभी समाजवादियों की यह एक सर्वमान्य अभिलाषा है कि साधारण मनुष्य का जीवन स्तर उठाया जाय। वे उन लोगों के विरुद्ध, जिन्हें वे कामचोर मानते हैं या मजदूरों के उचित लाभांशों की प्राप्ति में बाधक समझते हैं, मेहनतकश मजदूरों का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं। हमें शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि स्वामी विवेकानन्द जी भी अपने आपको समाजवादी कहते थे और अपनी मान्यताओं की पुष्टि में बहुत कुछ इसी प्रकार के तर्क भी देते थे। एक भाषण में उन्होंने कहा था कि, 'मैं भी एक समाजवादी हूँ। इसलिए नहीं कि समाजवाद कोई पूर्ण दर्शन है, अपितु इसलिए कि मैं समझता हूँ कि भूखे रहने की अपेक्षा एक कौर मात्र प्राप्त करना भी अच्छा है। सुख–दुःख का पुनर्विभाजन सचमुच ही उस स्थिति से अधिक श्रेयस्कर होगा जिसमें निश्चित व्यक्ति ही सुख या दुःख के भागी होते हैं। इस

कष्टपूर्ण संसार में प्रत्येक को अच्छा दिन देखने का अवसर मिलना ही चाहिए।' बुभुक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हें समान स्तर पर सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की यह इच्छा आज भी प्रत्येक समाजवादी को प्रेरणा देती है।

मार्क्स का दर्शन अपूर्ण

उनकी सदिच्छा सराहनीय है। इस दुःख और कष्टों से परिपूर्ण विश्व में, असमानता, अन्याय, दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़न, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे मानवीय अन्तःकरण प्राप्त है, समाजवादी वृत्ति अपनाये विना नहीं रह सकता। परन्तु समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि वह इस दुःखपूर्ण स्थिति का अन्त चाहता है। उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया है और उसके लिए औषधि की योजना भी की है। यहाँ पर उन्हें मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। उसने अपने समकालीन समाजवादी विचारों को एकत्रित कर एक ऐसी विस्तृत विचार–सरणि प्रस्तुत की जो आगे आने वाली पीढ़ियों को भी आकर्षित करने की क्षमता रखती थी। मार्क्स से विचार–भिन्नता रखने वाले समाजवादी भी उसके अकाट्य तर्कों का खण्डन नहीं कर पाते थे। उसने एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्शेविकों ने उस स्वप्न को साकार बनाने हेतु सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधिकार कर लिया। बोल्शेविक क्रान्ति से लेकर आज तक का रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताओं के बावजूद इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है।

लोकतन्त्र पर हमला

समाजवाद का पहला हमला हुआ लोकतन्त्र पर। लौह आवरण के पीछे रहने वालों को छोड़कर समस्त विश्व के समाजवादी विचारक आतंकित हो उठे। उन्हें लोकतन्त्र में आस्था थी। सच पूछा जाय तो लोकतान्त्रिक आदर्शों के कारण ही उन्हें जनसाधारण के प्रति सहानुभूति थी और उसके लिए समानता का स्थान प्राप्त करने की बात करते थे। लोकतन्त्र ने ही उन्हें राजनैतिक समानता प्रदान की थी। पर वैज्ञानिक अन्वेषणों और यन्त्रीकृत उत्पादन पद्धति ने उन्हें आर्थिक विषमता के गढ़े में ढकेल दिया। परिणामतः ऐसी राजनैतिक परिस्थिति में समानता का कोई महत्त्व न रहा। मार्क्स ने वर्गविहीन समाज का नारा लगाया। अन्तरिम अवधि तक मजदूरों के अधिनायकवाद की बात कही गयी। इसमें सन्देह की पूरी गुँजाइश थी। लोगों को एक संदिग्ध वस्तु की प्राप्ति

के लिए उस चीज (राजनैतिक समानता) का त्याग करने को कहा गया जो उन्हें पहिले से ही प्राप्त थी। उन्हें इस बात की किंचित् भी कल्पना नहीं थी कि समाजवाद उन्हें पहिले से ही प्राप्त वस्तु भी छीन लेगा। वे तो पहिले से ही अभावग्रस्त थे। समाजवाद के द्वारा उन्हें कुछ प्राप्त होना चाहिए था, न कि उनके पास का ही छीना जाना। किन्तु कुछ देने के पूर्व ही समाजवाद ने उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता और राजनैतिक समानता का भी अपहरण कर लिया। २८ अप्रैल सन् १९१९ में ही प्रिंस क्रोपाटकिन ने पश्चिमी यूरोप के मजदूरों के नाम एक पत्र में लिखा–

I owe it to you to say frankly that according to my view, this effort to build a communist republic on the basis of a strongly centralised state, communism under the iron law of party dictatorship is bound to end in failure. We are learning to know in Russia how no to introduce communism. As long as the country is governed by a party dictatorship, the worker and peasant's council evidently lose their entire significance, It (USSR) develops a bureaucracy so formidable. that French bureaucracy, which requires the help of fourty officials to sell a tree, broken down by a storm on the national high way, is a mere begalle in comparision.

'मैं आपको स्पष्ट रूप से यह बताना अपना दायित्व समझता हूँ कि मेरे विचार से सुदृढ़ केन्द्रित शासन व्यवस्था के आधार पर, दलीय तानाशाही के फौलादी शिकंजे के नीचे साम्यवादी गणतन्त्र निर्माण करने का प्रयास असफलता के रूप में ही सामने आयेगा। रूस से हम इस बात को सीख रहे हैं कि साम्यवाद को प्रवेश करने से कैसे रोका जाये? जब तक देश में दलीय तानाशाही का शासन कायम है, तब तक किसान और मजदूर परिषदें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकतीं। वे अपना समस्त वैशिष्ट्य ही खो बैठेंगी। रूसी गणराज्य आज एक ऐसी अभेद्य नौकरशाही को जन्म दे रहा है जिसके सम्मुख वह फ्रांस की नौकरशाही भी मात हो जायेगी जिसमें कहीं रास्ते में आँधी से गिरे हुए पेड़ को बेचने के लिए भी चालीस सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है।

गोली का पहला शिकार लोकतन्त्रवादी होगा

यूरोपीय समाजवादियों के नये प्रयासों ने उस तत्त्व को जन्म दिया, जिसे आज जनतान्त्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टों से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे कि समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतान्त्रिक ढँग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद और जनतन्त्र दोनों

की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और जनतन्त्र एक साथ पनप भी सकते हैं। सिद्धान्तवादी इस प्रश्न पर आशान्वित हैं, पर प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इस बात का हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के अधीन होने चाहिए। चूँकि समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनैतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोतों के द्वारा ही ढलता है, अतः समाजवादी व्यवस्था में राज्य का आर्थिक क्षेत्र के साथ–साथ राजनैतिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी, पूर्ण वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक ऐसी स्थिति पैदा होगी जब उन लोगों के विरुद्ध जो शासन में हैं लोकतान्त्रिक अधिकारों का प्रभावपूर्ण ढँग से प्रयोग करना सम्भवनीय नहीं होगा। समाजवादी बन्दूक की गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतन्त्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों साथ–साथ नहीं चल सकते। शेर–बकरी का एक ही घाट पर पानी पी सकना असंभव है।

सहअस्तित्व असम्भव

आज समाजवादी खेमे में व्याप्त भ्रमपूर्ण स्थिति के लिए बहुत अंशों तक यह सिद्धान्त ही जिम्मेदार है। अब तक कोई भी विचारक ऐसा सर्वांगपूर्ण दोषरहित चित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका है जिसमें इन दोनों तत्त्वों का सहअस्तित्व सम्भव हो सके। इसमें भी, यदि हम लोकतन्त्र के विभिन्न स्वरूपों और मर्यादाओं के साथ–साथ भिन्न–भिन्न देशों के विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक ढाँचे का और भिन्न–भिन्न प्रकार के भौतिक एवं आर्थिक विकास के स्तरों का विचार करें तब तो ये भ्रम के बादल और भी घनीभूत हो जाते हैं। इस भ्रमजाल की जटिलता के कारण यह गुत्थी इतनी उलझती जाती है कि उसका सुलझना असंभव–सा हो जाता है।

गैर समाजवादी देशों ने भी समाजवादियों के भ्रम को बढ़ाने का ही कार्य किया है। विगत वर्षों में अपनी उदारवादी नीतियों एवं नवीन आर्थिक चिंतन के कारण उन्होंने समाजवादियों को हतप्रभ–सा कर डाला है। आज अमेरिका या इंग्लैण्ड का सर्वसाधारण व्यक्ति, किसान और मजदूर जिसे साम्यवादी परिभाषा के अनुसार सर्वहारा कहा जाता है, सौ वर्ष पूर्व की तथाकथित उत्पीड़ित अवस्था में नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के आदर्श प्रस्थापित हो रहे हैं। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार के देशों के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हुई है। कल के पूँजीवादी देशों ने अपनी पद्धति में विकास किया है और आज वे भौतिक विकास में समाजवादियों से टक्कर लेने को उद्यत हैं, पर समाजवाद आज भी उसी स्थान पर अड़ा हुआ

है जहाँ से उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी। यदि उसने कुछ पग आगे बढ़ाये भी हैं तो वे सही दिशा में नहीं बढ़े हैं। इसके विपरीत पूँजीवादी देशों में लोकतन्त्र होने के कारण अपनी भूलों को सुधारने एवं नवीन बातों को स्वीकार करने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियों की समस्याओं के लिए दृष्टिकोण में इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिन्तन की प्रेरणा नहीं देती। **मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अन्धविश्वासों पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी नये स्वतन्त्र विचारों से दूर ही रहना पसन्द करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं; परन्तु विचारशील मानव विचाररहित नहीं हो सकता। यदि उसकी विचार तरंगों को योग्य दिशा देने की कोई योजनाबद्ध व्यवस्था न रही तो उसका अनिवार्य परिणाम चतुर्दिक भ्रम के रूप में सामने आये विना नहीं रह सकता।**

यह कैसा विरोध?

आज भारत में समाजवाद के बारे में जो वाद–विवाद उठ खड़ा हुआ है वह प्रमुख रूप से राजकीय उद्योगों के विस्तार की अनिवार्यता या व्यर्थता के ऊपर ही केन्द्रित है। स्वतन्त्र उद्योगों के पुरस्कर्त्ता एवं समाजवादी विचारक एक–दूसरे के विरुद्ध ताल ठोंककर खड़े हो गये हैं। पर साथ ही एक मजेदार तथ्य यह है कि दोनों एक दूसरे के लिए पर्याप्त और न्यायसंगत क्षेत्र खाली छोड़ने के लिए तत्पर भी हैं। अविकसित अर्थ–व्यवस्था में सरकार को कुछ ऐसे उद्योगों को भी अपने हाथ में लेना पड़ता है जो कदाचित् साधारण अवस्था में स्वतन्त्र लोगों के हाथ में छोड़े जा सकते थे। साथ ही किसी नियोजित अर्थ–व्यवस्था में स्वतन्त्र उद्योगपतियों को वैसी खुली छूट भी नहीं दी जा सकती जैसी शताब्दियों से पश्चिम के लोग उपभोग करते रहे हैं। सच पूछा जाये तो यह स्पर्द्धा यदि नियन्त्रित रखी गयी, तो दोनों में योग्य सन्तुलन स्थापित करने में सहायक हो सकती है। समस्याओं का सामना करते समय समाजवादी, स्वतन्त्रों की श्रेणी में आ बैठता है और स्वतन्त्र समाजवाद के खेमे में।

साध्य के अनुरूप साधन हों

पर प्रमुख समस्या यह नहीं है कि हम समाजवाद को स्वीकार करें या उद्योगों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों को। समाजवाद और लोकतन्त्र की आपस में तुलना नहीं की जा सकती, पर हमारे लिए ये ही विकल्प के रूप में नहीं है।

वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। तब फिर साध्य क्या हो? हमें पहले गन्तव्य निर्धारित कर, फिर मार्ग का निर्धारण करना चाहिए। सभी विचारशील मनुष्यों ने मानव कल्याण को साध्य माना है। दुर्भाग्य यह है कि अभी तक मनुष्य, मनुष्य को ही समझने में असमर्थ रहा है। मानव को सुखी व सम्पन्न बनाने के प्रयास में समाजवाद एवं लोकतन्त्र, दोनों ने ही उसको एक वीभत्स स्वरूप दे डाला है। उन्होंने उसकी समस्त विशेषताओं को उससे छीन लिया है। रेनेफुलप ने 'दि ह्युमनाइजेशन इन माडर्न सोसाइटी' नामक अपनी पुस्तिका में विवेचन किया है। वह लिखता है 'Democracy, although it gave us right to vote, trial by jury. a free press, religious freedom, the freedom to chose their jobs and the freedom to speak their mind. it also gave us the economic man.' (यद्यपि, जनतन्त्र ने हमें मत देने का अधिकार, न्याय पाने का अधिकार, विचार स्वातन्त्र्य, धार्मिक स्वातन्त्र्य, स्वयं का पेशा निर्धारित करने की स्वतन्त्रता और भाषण स्वातन्त्र्य प्रदान किया है, पर साथ ही उसने हमें 'आर्थिक मानव' की कल्पना भी दी है।)

इस कल्पना ने पूँजीवाद को जन्म दिया जहाँ अधिकाधिक उत्पादन क्षमता बढ़ाने पर तो अत्यधिक बल दिया गया पर सोद्देश्य जीवन व्यतीत करने की क्षमता बढ़ाने की ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य कर दिया गया। दूसरी ओर समाजवाद या साम्यवाद ने सामूहिक सुरक्षा एवं मजदूर वर्ग के हितों के संरक्षण का नारा लगाया, पर इसी के साथ–साथ उसने 'एक युद्ध–पिपासु मानव' को जन्म दिया। यह युद्धलोलुप मानव समाजवादी राज्य की ही देन है, उसे न विचार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है न स्वयं निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानव जीवन का मूल्य एक निरीह पशु से अधिक नहीं आँका जाता।

मशीन की गुलामी का अन्त आवश्यक

समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों ने ही मानव के भौतिक स्वरूप और आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है और दोनों की आधुनिक विज्ञान एवं यान्त्रिक उन्नति पर अत्यधिक श्रद्धा है। दोनों ही इन वर्तमान आविष्कारों के शिकार से हो गये हैं। परिणाम यह है कि उत्पादन के साधनों का निर्धारण, मानव कल्याण और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं किया जा रहा है बल्कि उनका निर्धारण यन्त्रों के अनुसार करना पड़ रहा है। उत्पादन की केन्द्रित व्यवस्था में, फिर उसका नियन्त्रण चाहे व्यक्ति द्वारा हो अथवा राज्य द्वारा, मानव के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। मशीन के एक पुर्जे से अधिक उसका महत्त्व नहीं रहता। यदि हमें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करनी

है तो हमें उसे मशीन की गुलामी से मुक्त करना होगा। आज व्यक्ति मशीन पर शासन नहीं करता, मशीन मनुष्य पर शासन कर रही है। इस मशीन–प्रेम के मूल में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को अधिकाधिक मात्रा में तृप्त करने की भावना निहित है। पर हम यह न भूलें कि केवल भौतिक समृद्धि मात्र से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। भौतिक साधनों से सम्पन्न राष्ट्रों की समस्याएँ भी आज हमारे सम्मुख हैं। हमें सम्पूर्ण मानव जीवन का विचार कर, उत्पादन वितरण और उपभोग को एक इकाई मानकर चलना पड़ेगा। हमें एक ऐसी पद्धति का निर्माण करना होगा, जिसमें मनुष्य उत्पादन और उपभोग करते समय एक सार्थक जीवन व्यतीत करने का भी ध्यान रखता है। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र ही नहीं है। उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं। जो जीवन–पद्धति मानव–जीवन के इस आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करती हो वह कदापि पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक प्रगति की कल्पना केवल हवाई उड़ान ही नहीं है; मानव की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व भी निभाना ही होगा। समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों ने ही एकांगी मार्ग स्वीकार किया है, और मनुष्य की इन दो भिन्न प्रवृत्तियों का समुचित सामंजस्य बिठाकर उसके व्यक्तित्व का विकास करने के स्थान पर एक भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा कर विभिन्न शक्तियों के लिए एक युद्धस्थल तैयार कर दिया है।

तरणोपाय

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवनादर्श ही हमें इस संकट से उबार सकते हैं। विश्व की समस्याओं का उत्तर समाजवाद नहीं, हिन्दुत्ववाद है। यही एक ऐसा जीवन–दर्शन है जो जीवन का विचार करते समय उसे टुकड़ों में नहीं बाँटता, अपितु सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर उसका विचार करता है। यहाँ पर हमें हिन्दू जीवनादर्शों का विचार करते समय कुछ निष्प्राण कर्मकाण्ड के साथ अथवा हिन्दू समाज में व्याप्त अनेक अहिन्दू व्यवहारों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए। साथ ही यह समझना भी भारी भूल होगी कि हिन्दुत्व वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति का विरोधी है। विज्ञान और यन्त्र इन दोनों का उपयोग इस पद्धति से होना चाहिए जिससे वे हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन–पद्धति के अनुरूप हों।

महात्मा गांधी के विचारों का अनुसरण कर विनोबा, जयप्रकाश नारायण

और राजगोपालाचार्य ने ट्रस्टीशिप का विचार सम्मुख रखा है। यह हिन्दू जीवन–पद्धति के अनुसार ही है। यह एक ऐसा विचार है जो समाजवाद और गैर समाजवादी दोनों ही समाजों के लिए समान रूप से उपयोगी हो सकता है। यदि हम पाश्चात्य–यन्त्र प्रणाली का अन्धानुकरण करते रहे तो सर्वोदय या समाजवाद दोनों ही न हमारी संस्कृति का संरक्षण कर सकेंगे न हमारे सम्मुख उपस्थिति समस्याओं का समाधान नहीं कर सकेंगे। हमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक सभी मोर्चों पर इस यन्त्रवाद का सामना करना पड़ेगा। **हमें धर्मराज्य, लोकतन्त्र सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये, हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई नया वाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा। अन्य मार्ग और विचार भारत की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ते– वे इस देश के जीवन को विकास के स्थान पर विकृति और विनाश की ओर ले जायेंगे। सम्भव है, विभ्रान्ति के चौराहे पर खड़े विश्व के लिए भी यह मार्गदर्शक का काम कर सके।**

✡

राष्ट्र जीवन की समस्याएँ

भारत में एक ही संस्कृति रह सकती है; एक से अधिक संस्कृतियों का नारा देश के टुकड़े–टुकड़े कर हमारे जीवन का विनाश कर देगा। अतः आज लीग का द्वि–संस्कृतिवाद, कांग्रेस का प्रच्छन्न द्वि–संस्कृतिवाद तथा साम्यवादियों का बहुसंस्कृतिवाद नहीं चल सकता। आज तक एक–संस्कृतिवाद को सम्प्रदायवाद कहकर ठुकराया गया; किन्तु अब कांग्रेस के विद्वान् भी अपनी गलती समझकर एक–संस्कृतिवाद को अपना रहे हैं। इसी भावना और विचार में भारत की एकता तथा अखण्डता बनी रह सकती है तथा तभी हम अपनी सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझा सकते हैं।

मनुष्य अनेक जन्मजात प्रवृत्तियों के समान, देशभक्ति की भावना भी स्वभाव से प्राप्त करता है। केवल परिस्थितियों एवं वातावरण के दबाव से किसी व्यक्ति में यह प्रवृत्ति सुप्त होकर विलीनप्राय हो जाती है। इस प्रकार विकसित देश–प्रेम के व्यक्ति, अपने कार्यकलापों की प्रेरणा अस्पष्ट एवं क्षीण भावना से नहीं वरन् अपने स्वप्नों के अनुसार अपने देश का निर्माण करने की प्रबल ध्येयवादिता से पाते हैं। भारत में भी प्रत्येक देशभक्त के सम्मुख इस प्रकार का ध्येय–पथ है तथा वह समझता है कि अपने पथ पर चलकर ही वह देश को समुन्नत बना सकेगा। यह ध्येय–पथ यदि एक ही होता तथा सब देशभक्तों के लिए आदर्श भारत का स्वरूप भी एक ही होता तब तो किसी भी प्रकार के विवाद या संघर्ष का प्रश्न नहीं था; किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि आज भिन्न–भिन्न मार्गों से लोग देश को आगे ले जाना चाहते हैं तथा प्रत्येक का विश्वास है कि उसी का मार्ग सही मार्ग है। अतः हमको इन मार्गों का विश्लेषण करना होगा और तब ही हम प्रत्येक की वास्तविकता को भी समझ सकेंगे।

चार प्रमुख मार्ग

इन मार्गों को देखते हुए हमें चार प्रधान वर्ग दिखायी देते हैं– अर्थवादी, राजनीतिवादी, मतवादी तथा संस्कृतिवादी।

अर्थवादी

प्रथम वर्ग अर्थवादी, सम्पत्ति को ही सर्वस्व समझता है तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण दोषों को सब प्रकार की दुरावस्था की जड़ मानकर उसमें सुधार करना ही अपना एकमेव कर्त्तव्य समझता है। उसका एकमेव लक्ष्य 'अर्थ' है। साम्यवादी एवं समाजवादी इसी वर्ग के लोग हैं। इनके अनुसार भारत की राजनीति का निर्धारण अर्थ–नीति के आधार पर होना चाहिए तथा संस्कृति एवं मत (त्मसपहपवद) को वे गौण समझकर अधिक महत्त्व देने को तैयार नहीं हैं।

राजनीतिवादी

राजनीतिवादी दूसरा वर्ग है। यह जीवन का सम्पूर्ण महत्त्व, राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने में ही समझता है तथा राजनीतिक दृष्टि से संस्कृति, मजहब तथा अर्थनीति की व्याख्या करता है। अर्थवादी यदि एकदम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा विना मुआवजा दिये जमींदारी–उन्मूलन चाहता है, तो राजनीतिवादी अपने राजनीतिक कारणों से ऐसा करने में असमर्थ है। इस प्रकार उसके लिए संस्कृति एवं मजहब का भी मूल्य अपनी राजनीति के लिए ही है, अन्यथा नहीं। इस वर्ग के अधिकांश लोग कांग्रेस में हैं, जो आज भारत की राजनीतिक बागडोर सँभाले हुए हैं।

मतवादी

तीसरा वर्ग मजहब–परस्त या मतवादी है। इसे धर्मनिष्ठ कहना ठीक होगा; क्योंकि धर्म, मजहब या मत से बड़ा तथा विशाल है। यह वर्ग अपने–अपने मजहब के सिद्धान्तों के अनुसार ही देश की राजनीति अथवा अर्थनीति को चलाना चाहता है। इस प्रकार का वर्ग मुल्ला–मौलवियों अथवा रूढ़िवादी कट्टरपन्थियों के रूप में अब भी विद्यमान है, यद्यपि आजकल उसका बहुत प्रभाव नहीं रह गया है।

संस्कृतिवादी

चौथा वर्ग संस्कृतिवादी है। इसका विश्वास है कि भारत की आत्मा का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृति ही है। अतः अपनी संस्कृति की रक्षा एवं विकास ही

हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए। यदि हमारा सांस्कृतिक ह्रास हो गया तथा हमने पश्चिम के अर्थ–प्रधान अथवा भोग–प्रधान जीवन को अपना लिया तो हम निश्चित ही समाप्त हो जायेंगे। यह वर्ग भारत में बहुत बड़ा है। इसके लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में तथा कुछ अंशों में कांग्रेस में भी हैं। कांग्रेस के ऐसे लोग राजनीति को केवल संस्कृति का पोषक मात्र ही मानते हैं, संस्कृति का निर्णायक नहीं। हिन्दीवादी सब लोग इसी वर्ग के हैं।

मार्गों की प्राचीनता

उपर्युक्त चार वर्गों की विवेचना में यद्यपि हमने आधुनिक शब्दों का प्रयोग किया है; किन्तु प्राचीन काल में भी ये चार प्रवृत्तियाँ उपस्थित थीं तथा इनमें से एक प्रवृत्ति को ही अपनाकर हमने अपने जीवन के आदर्श का मानदण्ड बनाया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही चार प्रवृत्तियाँ हैं। धर्म संस्कृति का, अर्थ भौतिक वैभव का, काम राजनैतिक आकांक्षाओं का तथा मोक्ष पारलौकिक उन्नति का द्योतक था। इनमें से हमने धर्म को ही अपने जीवन का आधार बनाया है; क्योंकि उसके द्वारा ही हमने शेष सबको सधते हुए देखा है। इसीलिए जब महाभारत काल में धर्म की अवहेलना होनी प्रारम्भ हुई, तब महर्षि व्यास ने कहा–

"उर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति में।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।"

अर्थ और काम की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति धर्म से होती है; इसलिए धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि **"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।"** जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो वही धर्म है। यह धर्म निश्चित ही अंग्रेजी का रिलीजन नहीं है। रिलीजन के लिए तो हमने मत शब्द का प्रयोग किया है, जो प्रत्येक के लिए भिन्न होता था तथा मोक्ष–निर्वाण अथवा परमानन्द–प्राप्ति का साधन होता था, जबकि धर्म के द्वारा सम्पूर्ण समाज की धारणा तथा उसके अंगों का पालन होता था। इसलिए धर्म की भी व्याख्या की गयी है :–

'धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।'

धर्म प्रधान भारतीय जीवन

भारतीय जीवन को धर्म–प्रधान बनाने का प्रमुख कारण यह था कि इसी में जीवन के विकास की सबसे अधिक निश्चिति है। आर्थिक दृष्टिकोण वाले

लोग यद्यपि आर्थिक समानता के पक्षपाती हैं; किन्तु वे व्यक्ति की राजनीतिक एवं आत्मिक सत्ता को पूर्णतः समाप्त कर देते हैं। राजनीतिवादी प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देकर उसके राजनैतिक व्यक्तित्व की रक्षा तो अवश्य करते हैं; किन्तु आर्थिक एवं आत्मिक दृष्टि से वे भी अधिक विचार नहीं करते। अर्थवादी यदि जीवन को भोग–प्रधान बनाते हैं, तो राजनीतिवादी उसको अधिकार–प्रधान बना देते हैं। मतवादी बहुत कुछ अव्यावहारिक, गतिहीन एवं संकुचित हो जाते हैं। किसी–किसी व्यक्ति विशेष अथवा पुस्तक विशेष के विचारों के वे इतने गुलाम हो जाते हैं कि समय के साथ वे अपने आपको नहीं रख पाते तथा इस प्रकार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। इन सबके विपरीत संस्कृति–प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के केवल मौलिक तत्त्वों पर तो जोर दिया जाता है; पर शेष बाह्य बातों के सम्बन्ध में प्रत्येक को स्वतन्त्रता रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता है। संस्कृति किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के बन्धन से जकडी हुई नहीं है; अपितु यह तो स्वतन्त्र एवं विकासशील जीवन की एक मौलिक प्रवृत्ति है। इस संस्कृति को ही हमने धर्म कहा है। अतः जब कहा जाता है कि भारतवर्ष धर्म–प्रधान देश है, तो इसका अर्थ मजहब, मत या रिलीजन नहीं; किन्तु यह सस्कृति ही होता है।

भारत की विश्व को देन

हमने देखा है कि भारत की आत्मा को समझना है, तो उसे राजनीति अथवा अर्थ–नीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। विश्व को भी यदि हम कुछ सिखा सकते हैं, तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्त्तव्य–प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं, राजनीति अथवा अर्थनीति की नहीं। उसमें तो शायद हमको उनसे ही उल्टे कुछ सीखना पड़े। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के स्थान पर त्याग, अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के स्थान पर विशाल एकात्मता प्रकट की है। इनके साथ ही हम विश्व में गौरव के साथ खड़े हो सकते हैं।

संघर्ष का आधार

भारतीय जीवन का प्रमुख तत्त्व उसकी संस्कृति अथवा धर्म होने के

कारण उसके इतिहास में भी जो संघर्ष हुए हैं, वे अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिए ही हुए हैं तथा इसी के द्वारा हमने विश्व में ख्याति भी प्राप्त की है हमने बड़े–बड़े साम्राज्यों के निर्माण को महत्त्व न देकर अपने सांस्कृतिक जीवन को पराभूत नहीं होने दिया। यदि हम अपने मध्ययुग का इतिहास देखें, तो हमारा वास्तविक युद्ध अपनी संस्कृति के रक्षार्थ ही हुआ है। उसका राजनीतिक स्वरूप यदि कभी प्रकट भी हुआ, तो संस्कृति की रक्षा के निमित्त ही। राणा प्रताप तथा राजपूतों का युद्ध केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए नहीं था; किन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए ही था। छत्रपति शिवाजी ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना गौ–ब्राह्मण–प्रतिपालक के लिए ही की। सिक्ख–गुरुओं ने समस्त युद्ध–कर्म धर्म की रक्षा के लिए ही किये। इन सबका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि राजनीति का कोई महत्त्व नहीं था तथा राजनीतिक गुलामी हमने सहर्ष स्वीकार कर ली थी; किन्तु तात्पर्य यह है कि राजनीति को हमने जीवन में केवल सुख का कारण मात्र माना है, जबकि संस्कृति सम्पूर्ण जीवन ही है।

संस्कृतियों का संघर्ष

आज भी भारत में प्रमुख समस्या सांस्कृतिक ही है। वह भी आज दो प्रकार से उपस्थित है, प्रथम तो संस्कृति को ही भारतीय जीवन का प्रथम तत्त्व मानना तथा दूसरा इसे मान लेने पर उस संस्कृति का रूप कौन–सा हो? विचार के लिए यद्यपि यह समस्या दो प्रकार की मालूम होती है; किन्तु वास्तव में है एक ही। क्योंकि एक बार संस्कृति को जीवन का प्रमुख एवं आवश्यक तत्त्व मान लेने पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में झगड़ा नहीं रहता, न उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद ही उत्पन्न होता है। यह मतभेद तो तब उत्पन्न होता है, जब अन्य तत्त्वों को प्रधानता देकर संस्कृति को उसके अनुरूप उन ढाँचों मे ढँकने का प्रयत्न किया जाता है।

इस दृष्टि से देखें, तो आज भारत में एक–संस्कृतिवाद, द्वि–संस्कृतिवाद तथा बहु–संस्कृतिवाद के नाम से तीन वर्ग दिखायी देते हैं। एक–संस्कृतिवाद के पुरस्कर्त्ता भारत में विकसित एक ही भारतीय संस्कृति का अस्तित्व मानते हैं तथा अन्य संस्कृतियों के लिए जो विदेशों से भारत में आयी हैं, आवश्यक समझते हैं कि वे भारतीय संस्कृति में विलीन हो जायें। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसी एक–संस्कृतिवाद का पोषक तथा कांग्रेस में श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन प्रभृति व्यक्ति इसी वाद के पोषक रहे हैं।

द्वि–संस्कृतिवादी

द्वि–संस्कृतिवादी दो प्रकार के हैं। एक तो स्पष्ट तथा दूसरे प्रच्छन्न। एक वर्ग भारत में स्पष्टतया दो संस्कृतियों का अस्तित्व मानता है तथा उनको बनाये रखने की माँग करता है। मुस्लिम लीगी इसी मत के है। वे हिन्दू और मुस्लिम दो संस्कृतियों को मानते हैं तथा उनका आग्रह है कि मुसलमान अपनी संस्कृति की रक्षा अवश्य करेगा। दो संस्कृतियों के आधार पर ही उन्होंने दो राष्ट्रों का सिद्धान्त सामने रखा, जिसके परिणाम को हम पिछले वर्षों में भली–भाँति अनुभव कर चुके हैं। प्रच्छन्न द्वि–संस्कृतिवादी वे लोग है, जो स्पष्टतया तो दो संस्कृतियों का अस्तित्व नहीं मानते, मूल से एक संस्कृति एवं एक राष्ट्र का ही राग अलापते है; किन्तु व्यवहार मे दो संस्कृतियों को मानकर उनका समन्वय करने का असफल प्रयत्न करते है। वे यह तो मान लेते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दो संस्कृतियाँ है; किन्तु उनको मिलाकर एक नवीन हिन्दुस्तानी संस्कृति बनाना चाहते हैं। अतः हिन्दी–उर्दू का प्रश्न वे हिन्दुस्तानी बनाकर हल करना चाहते हैं तथा अकबर को राष्ट्र–पुरुष मानकर अपने राष्ट्र के महापुरुषों के प्रश्न को हल करना चाहते हैं। 'नमस्ते' और 'सलामालेकुम' का काम ये 'आदाब–अर्ज' से चला लेना चाहते हैं। यह वर्ग कांग्रेस में बहुमत में है। दो संस्कृतियों के मिलाने के अब तक असफल प्रयत्न हुए है; किन्तु परिणाम विघातक ही रहा है। मुख्य कारण यह है कि जिसको मुस्लिम संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है वह किसी मजहब की संस्कृति न होकर अनेक अभारतीय संस्कृतियों का समुच्चय मात्र है। फलतः उसमें विदेशीपन है, जिसका मेल भारतीयत्व से बैठना कठिन नहीं, असम्भव भी है। इसलिए यदि भारत में एक संस्कृति और एक राष्ट्र को मानना है, तो वह भारतीय संस्कृति एवं भारतीय हिन्दू राष्ट्र, जिसके अन्तर्गत मुसलमान भी आ जाते हैं, के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।

बहु–संस्कृतिवादी

बहु–संस्कृतिवादी वे लोग है जो प्रान्त की निजी संस्कृति मानते हैं तथा उस प्रान्त को उस आधार पर आत्म–निर्णय का अधिकार देकर बहुत कुछ अंशों में स्वतन्त्र ही मान लेते है। साम्यवादी एवं भाषानुसार प्रान्तवादी लोग इस वर्ग के हैं। वे भारत में सभी प्रान्तों में भारतीय संस्कृति की अखण्ड धारा का दर्शन नहीं कर पाते।

संस्कृति से भिन्न जीवन का आधार

उपरोक्त तीनों प्रकार के वर्गों का प्रमुख कारण यह है कि उनके सम्मुख

संस्कृति–प्रधान जीवन न होकर मजहब, राजनीति अथवा अर्थनीति प्रधान जीवन ही है मुस्लिम लीग ने अपने अमूर्त्त तत्त्व का आधार मुस्लिम मजहब समझकर ही भिन्न मुस्लिम संस्कृति एवं राष्ट्र का नारा लगाया तथा उसके आधार पर ही अपनी सब नीति निर्धारित की। कांग्रेस का जीवन एवं लक्ष्य राजनीति–प्रधान होने के कारण उसने अंग्रेजों का मुकाबला करने के लिए तथा शासन चलाने के लिए सब वर्गों को मिलाकर खड़ा करने का विचार किया, जिसके कारण अप्रत्यक्ष रूप से वह भी द्वि–संस्कृतिवाद का शिकार बन गयी। बहु–संस्कृतिवादी जीवन को अर्थप्रधान मानते हैं, अतः वे आर्थिक एकता की चिन्ता करते हुए सांस्कृतिक एकता की ओर से उदासीन रह सकते हैं।

एक राष्ट्र और एक संस्कृति

केवल एक संस्कृतिवादी लोग ही ऐसे हैं जिनके समक्ष और कोई ध्येय नहीं है तथा जैसा कि हमने देखा, संस्कृति ही भारत की आत्मा होने के कारण वे भारतीयता की रक्षा एवं विकास कर सकते हैं। शेष सब तो पश्चिम का अनुकरण करके या तो पूँजीवाद अथवा रूस की तरह आर्थिक प्रजातन्त्र तथा राजनैतिक पूँजीवाद का निर्माण करना चाहते हैं। अतः उनमें सब प्रकार की सद्भावना होते हुए भी इस बात की सम्भावना कम नहीं है कि उनके द्वारा भी भारतीय आत्मा का तथा भारतीयत्व का विनाश हो जाय। अतः आज की प्रमुख आवश्यकता तो यह है कि एक–संस्कृतिवादियों के साथ पूर्ण सहयोग किया जाय। तभी हम गौरव और वैभव से खड़े हो सकेंगे तथा राष्ट्र–विघटन जैसी भावी दुर्घटनाओं को रोक सकेंगे।

✡